Review Of Research
Vol.1,Issue.VI/MARCH; 12pp.1-4
डॉ॰ (श्रीमती) ज्योति शर्मा
ISSN:-2249-894X

Research Papers

श्रीमद्भगवद्गीता एवं जीवनदर्शन

डॉ॰ (श्रीमती) ज्योति शर्मा
कुरुक्षेत्र

प्रस्तावनाः–

कोई भी पुस्तक अथवा कृति अपने आकार, पृष्ठों की सङ्ख्या और भाषा के क्लिष्ट होने से महान् नहीं होती । मात्र सात सौ श्लोकों में रचित सरल–भाषा की पुस्तक भी महान् ही नहीं बल्कि विश्व का महानतम ग्रन्थ हो सकती है, इसका प्रबल प्रमाण है – 'श्रीमद्भगवद्गीता' । महाभारत की समरभूमि में अर्जुन के विभ्रमित हो जाने पर पूर्णावतार भगवान् श्री कृष्ण ने उसे सत्य–असत्य निर्णय, कर्त्तव्य और ज्ञान का जो उपदेश दिया, वही है 'भगवद्गीता' । यह एक ऐसी पुस्तक है जो असाधारणतया दीर्घ–काल से जीवित चली आ रही है और आज भी प्रायः उतनी ताज़ी है और अपने वास्तविक सारतत्त्व में अभी भी बिल्कुल उतनी नवीन है, जितनी यह तब थी । श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से मानवता के लिए जो प्रकाशपुञ्ज दिया, उसने इतिहास के इस लम्बे समय में असङ्ख्य हृदयों को सत्प्रेरणा दी है । गीता के विचार एक जाति और संस्कृति के पुनरुज्जीवन एवं नव–जागरण में एक प्रबल निर्माणकारी शक्ति के रूप में कार्य कर रहे हैं ।

इस संसार में जन्म लेने के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति जो–जो अनुभव करता है, जिस प्रकार के कार्य करता है, जिस प्रकार की समस्याओं का सामना करता है, उसकी मानसिक स्थिति कैसी होती है, उसके मन में जो विभिन्न प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, उनका हल क्या है? अर्थात् जीवन से सम्बन्धित सभी अवस्थाओं का वर्णन और जीवन जीने की कला आदि का विशद निरूपण इस भवगद्गीता में मिलता है । वस्तुतः जीवनदर्शन के तत्त्व उपनिषदों में विस्तारपूर्वक मिलते हैं लेकिन उपनिषदों का सार गीता में है ।

''सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्स–सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।''

गीता–उपदेश को प्रणिधान और श्रद्धा के साथ सुनने का ही फल हुआ – अर्जुन का मोह–नाश, स्मृति की प्राप्ति तथा भगवान् के उपदेश के अनुसार कर्म करने का दृढ़ सङ्कल्प । गीता की शिक्षा में प्रगति, उन्नति और अमरत्व है । गीता इस धरा पर मनुष्यों के कल्याणार्थ वेदों, उपनिषदों और शास्त्रों के निचोड़ के रूप में आई है । गीता से मनुष्य के हृदय में ज्योति होगी, शक्ति का पूर्ण विकास होगा, जीवन में उत्साह बढ़ेगा, भगवान् में दृढ़ विश्वास होगा, उस प्रभु से साक्षात्कार होगा, जो मनुष्य का चरम लक्ष्य है ।

महाभारत में व्यास ने लिखा है –

''गीता सुगीता कर्त्तव्या, किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता ।।''

भगवान् कृष्ण के द्वारा गीता में बताया गया जीवनदर्शन इस प्रकार हैः–

1. देह और देही का स्वरूप

सर्वप्रथम मृत्यु के विषय में जिज्ञासा करने वाले नचिकेत को यम ने कहा था कि 'मरणं मानुप्राक्षीः' । परन्तु उसके न मानने पर यम ने मृत्यु और आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया था–

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।'

भगवान् कृष्ण के द्वारा भी शरीर के क्षणभुरता और आत्मा (देही) के नित्यत्व की बात की गई है –

अन्तवत इमे देहा नित्यस्योक्तः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।''

अर्थात् इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसीलिए हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर । अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण और इन्द्रियों के सहित समस्त शरीर नाशवान् है । जैसे स्वप्न के शरीर और समस्त जगत् बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये समस्त शरीर भी बिना हुए ही अज्ञान से प्रतीत हो रहे हैं, वास्तव में इनकी सत्ता नहीं है । इसलिए इनका नाश होना अवश्यम्भावी है, अतएव इसके लिए शोक करना व्यर्थ है । वस्तुतः आत्मा अमर है । यह किसी काल में न मरता है न ही जन्म लेता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता । इस संसार में नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकार के पुरुष हैं । इनमें सम्पूर्ण भूत–प्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ।

Please cite this Article as : डॉ॰ (श्रीमती) ज्योति शर्मा **,**श्रीमद्भगवद्गीता एवं जीवनदर्शन **: Review of Research (March ; 2012)**

Review Of Research
Vol.1,Issue.VI/March 2012;

2.जन्म एवं मृत्यु का स्वरूप

संसार की प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से अपने पहले रूप को छोड़कर दूसरे रूप को धारण कर लेती है । इसमें पहले रूप को छोड़ना 'मरना' तथा दूसरे रूप को धारण करना 'जन्म' (जन्मना) कहलाता है । इस प्रकार जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु तो निश्चित है और जिसकी मृत्यु होती है वह फिर जन्म लेता है । यह जन्म–मृत्यु प्रवाह तो अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा । अतः श्री कृष्ण अर्जुन से लए शोक करना उचित नहीं । अगर परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा?मनुष्य बालक से जवान, मूर्ख से विद्वान् रोगी से नीरोगी कैसे बनेगा? परिवर्तन के बिना संसार एक स्थिर चक्र की तरह बन जायेगा । वास्तव में शरीर ही मरता है, उसमें विद्यमान आत्मा अर्थात् उसका मालिक तो निकल जाता है ।

इसलिए भगवान् कृष्ण का अर्जुन के माध्यम से सम्पूर्ण मानव जाति के लिए यही उपदेश है –

''अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।

जो चले गए हैं और जो नहीं गए अर्थात् मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए, उनके लिए बुद्धिमान् लोग शोक नहीं करते हैं । 'गतासून' और अगतासून – इन दोनों के लिए कर्त्तव्य–कर्म करना चिन्ता की बात नहीं है । 'गतासून' के लिए पिण्ड–पानी देना, श्राद्ध–तर्पण करना यह कर्त्तव्य है और 'अगतासून' के लिए व्यवस्था कर देना, निर्वाह का प्रबन्ध करना कर्त्तव्य है । कर्त्तव्य चिन्ता का विषय नहीं प्रत्युत विचार का विषय होता है । विचारों से कर्त्तव्य का बोध होता है और चिन्ता से विचार नष्ट होता है जिनको सत् और असत् का स्पष्टरूपेण विवेक हो, वे पण्डित कहलाते हैं ।

3.जन्म–जन्मान्तर–स्वरूप

गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जैसे शरीर की कुमार, युवा, वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही देहान्तर की अर्थात् दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार स्थूल शरीर बालक से जवान तथा जवान से बूढ़ा होता है– इस परिवर्तन से व्यक्ति को दुःख नहीं होता, ऐसे ही शरीरी अर्थात् आत्मा के एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने पर मनुष्य को शोक नहीं करना चाहिए । इसी बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है –

''वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय, जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।''

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्रह्मलोक तक सभी लोक पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जाकर भी पुनः संसार में लौटकर आना पड़ता है । परन्तु मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता है ।

4.निष्काम कर्मयोग

संशयहीन दुविधामुक्त आनन्द की अनुभूति ही मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य है । इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अर्जुन के रूप में प्रत्येक साधक को अपना सम्पूर्ण रास्ता स्वयं ही तय करना पड़ता है । इसी मार्ग पर चलना अथवा सीढ़ी द्वारा सीढ़ी चढ़ना ही गीता का कर्मयोग है। गीता में कर्मयोग से तात्पर्य है फल के प्रति आसक्ति का त्याग । कर्म के 3 पक्ष होते हैं –

1.यदि फल के प्रति आसक्ति नहीं करनी तो कार्य क्यों किया जाए?
2.कार्य को किया भी जाए और फल की इच्छा भी की जाए ।
3.कार्य किया जाए लेकिन उसके फल पर अपना अधिकार न समझे ।

इनमें प्रथम पक्ष तामसिक प्रवृत्ति के व्यक्ति का, द्वितीय पक्ष राजसिक तथा तृतीय पक्ष सात्त्विक प्रवृत्ति के व्यक्ति का है । गीता में सात्त्विक वृत्ति के व्यक्ति का दृष्टिकोण ही 'कर्मयोग' है । यही निष्काम कर्मयोग है ।

कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी बिना कार्य किए नहीं रह सकता । हर क्षण वह कुछ न कुछ करता है । यह भी सत्य है कि यह संसार अपने कर्मसूत्र में बन्धा हुआ है । इसलिए हमें शास्त्रविहित कर्म ही करना चाहिए और वह आसक्ति एवं फलाभिसन्धि–रहित से हो ।

सिद्धि और असिद्धि में समान भाव ही योग है –

''योगस्थः कुरु कर्माणि, स(त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यासिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।''

अथ च –'योगः कर्मसु कौशलम्' भी कहा गया है । कौशल शब्द की श÷ाचार्य से लेकर बालग(धर तिलक आदि ने अनेक व्याख्याएँ की है, परन्तु कुशलता का अर्थ यही है जो एक आचार्य अपने पास एक शिष्य के आने पर उसकी सामान्य ज्ञान की परीक्षा के लिए उसे कुशा काटने के लिए कहता था अगर उसका हाथ रक्त से रंजित हो गया, तो वह शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य है और यदि वह बिना हाथ को रंजित किए कुशा को काटता है, तो वह आचार्य उसे शिक्षा देता था ।

महान् उपलब्धियाँ केवल योग्यता द्वारा ही प्राप्त नहीं की जाती बल्कि सफलताओं को कार्यकुशलता से प्राप्त किया जाता है । आधुनिक युग में शिक्षा के फलस्वरूप युवकों तथा युवतियों की सामान्य ज्ञान में तो वृद्धि हो रही है, परन्तु कर्मक्षेत्र में इस ज्ञान को, व्यवहार में लाने की क्षमता का निश्चय वे पूरा नहीं कर पा रहे हैं । आज जब व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता अथवा परिस्थितियाँ बीच में आ जाती हैं, तो वह स्वाभाविक स्थिति का सीधा सामना करने की बजाय, उससे भागने का प्रयास करता है । परन्तु समस्या का सामना करने की बजाय, उससे भागना समस्या का समाधान नहीं है । अर्जुन के साथ भी यही हो रहा था, तब श्रीकृष्ण ने उसे यही कहा था – 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। यह श्लोक आज की परिस्थिति में अमोघ अस्त्र है ।

अतः सत्य ही कहा गया है –

''तस्मादसक्तः सततं कार्य कर्म समाचार ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म, परमाप्नोति पुरुषः ।।''

अर्थात् निरन्तर आसक्ति–रहित होकर कर्त्तव्य–कर्म का भलीभान्ति आचरण कर क्योंकि आसक्ति–रहित कार्य करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ।

5.अंहकार का त्याग

जीवन में अहंकार का त्याग नितान्त अपेक्षित है । अहंकार से ग्रस्त मूर्ख व्यक्ति ही यह कहता है – मैंने यह किया, मैं ही करूगाँ, मैं परिवार से सम्पन्न हूँ, मेरे समान कोई दूसरा नहीं है । लेकिन यह हमेशा याद रखना चाहिए कि सबका कर्त्ता एक ईश्वर है, होने वाले सम्पूर्ण कार्य तो पहले ही निर्णीत है । मनुष्य तो केवल निमितमात्र है । यहाँ निमित्तमात्र बनने का अर्थ यह नहीं कि नाममात्र के लिए कर्म करो प्रत्युत इसका तात्पर्य है – अपनी पूरी शक्ति लगाकर कार्य करो परन्तु अपने को कारण मत मानो अर्थात् अपने परिश्रम में कमी मत रखो और अपने में अभिमान मत रखो । ईश्वर ने जो बल, विद्या, योग्यता दी है वह सब लगाने के लिए दी है, परन्तु यदि हम पूरा बल लगाने पर भी कुछ प्राप्त नहीं कर पाते हैं, तो निराश न हों, प्राप्ति तो प्रभु–कृपा से होगी । अर्जुन के सामने युद्ध था, इसीलिए भगवान् उन्हें कहता है कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी । इसी प्रकार हमारे सामने संसार है, हम यदि निमित्तमात्र बनकर कार्य करेंगे, तो संसार पर हमारी विजय हो जाएगी ।

6.कामक्रोधादि अन्तः शत्रुओं का त्याग

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और परिग्रह आदि मनुष्य के आन्तरिक शत्रु हैं, ये अदृश्य रहते हैं । बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा ये छः शत्रु घातकतम हैं क्योंकि न तो हम इनको देख सकते हैं और न ही बाह्य शत्रुओं की तरह इनका प्रतीकार कर सकते हैं । अतः मनुष्य को सदैव इन छः आन्तरिक शत्रुओं का नाश करने का प्रयास करना

Please cite this Article as : डॉ॰ (श्रीमती) ज्योति शर्मा ,श्रीमद्भगवद्गीता एवं जीवनदर्शन : **Review of Research (March ; 2012)**

Review Of Research
Vol.1,Issue.VI/March 2012;

चाहिए । श्री कृष्ण ने भी यही कहा है –

' अहा÷कार बलं दर्पं कामं क्रोधपरिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।''

जब अर्जुन ने कृष्ण जी से पूछा कि मनुष्य न चाहते हुए भी बलात् लगाये हुए की भान्ति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है । तब भगवान् ने कहा था कि रजोगुण से उत्पन्न काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी भी न ऊँघने वाला और बड़ा पापी है, इस विषय में इसे ही सबसे बड़ा अपना दुश्मन समझ ।

जिस प्रकार धुँए से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है तथा जेर से गर्भ ढका रहता है, ठीक उसी प्रकार काम के द्वारा ज्ञान ढका रहता है । अतः कामादि का परित्याग ही कल्याणकारक है । वस्तुतः काम, क्रोध तथा लोभ नरक के द्वार तथा आत्मा का नाश करने वाले हैं । अतएव इन तीनों का त्याग नितान्तावश्यक है, अन्यथा अधोगति निश्चित है ।

7.मन को वश में करना :

इस संसार के सभी बन्धनों और मोक्ष का कारण मन है । यह बहुत ही चञ्चल है । इसे वश में करना अत्यन्तावश्यक है । अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा जो आपने योग समभाव से कहा है, मन चञ्चल होने के कारण मैं उसकी नित्य स्थिति नहीं देखता हूँ । यह मन तो बहुत चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला, बहुत दृढ़ और बलवान् है । इसे वश में करना मैं वायु को रोकने की भान्ति दुष्कर मानता हूँ । तब भगवान् कहते हैं –

''असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।''

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियों के सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का त्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर–सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापों को प्राप्त नहीं होता है । इसलिए यह मन सदैव कल्याणकारी विचारों से युक्त रहे ।

8.जितेन्द्रिय :

जिस पुरुष की इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं उसकी बुद्धि भी स्थिर हो जाती है । ये इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष को भी बलात् हर लेती है–

'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।'

परन्तु साधक को उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके, समाहितचित होकर प्रभु में परायण होकर ध्यान में बैठना चाहिए क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती है, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है । अपि च –

''तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।''

9.दैवी और आसुरी :

महाभारत के युद्ध का नाम है –

'आध्यात्मिक देवासुर–सङ्ग्राम' । प्रत्येक मनुष्य के शरीर के भीतर दो प्रकार के कलह–प्रवण भाव अनादिकाल से ही युद्ध करते आ रहे हैं । इनमें पहला है – 'आसुरभाव' और दूसरा है –'दैवभाव' । इस सङ्ग्राम में प्रायः आसुरभाव ही विजयी होता है, दैवभाव की विजय हेतु जन–साधारण में अलौकिक शक्तिसम्पन्न महापुरुष अथवा ईश्वर का आविर्भाव होता है । श्रीमद्भवगद्गीता के 16वें अध्याय में इस देवासुर सङ्ग्राम के दैवभाव और आसुरभावों का प्रकृष्ट परिचय दिया गया है । दैवी–सम्पदा मुक्ति के लिए और आसुरी–सम्पदा मोक्ष के लिए मानी गई है । निर्भिकता, विशुद्धचित्तता, ज्ञानयोगपरता, दान, बाह्य इन्द्रियों का संयम, यज्ञ, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, वञ्चना त्याग, जीवदया, लोभ न करना, मृदुता लज्जा, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुचिता, अद्रोह, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव– ये भाव उनके होते हैं, जो दैवी सम्पद् के अधिकारी होकर जन्म लेते हैं । दम्भ, घमण्ड़, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान – ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं । यह पुरुष प्राणियों का शत्रु होता है । ये अपवित्र कार्य को ही व्रतरूप से ग्रहण करता है । इसके विचार में भोगाकाङ्क्षा की चरितार्थता ही मनुष्य का उद्देश्य है ।

सभी मनुष्यों को इस जीवन में दैवी–सम्पद् को प्राप्त करने के लिए ही निरन्तर प्रयास करना चाहिए ।

10.परमपदप्राप्ति की पात्रता एवं प्राप्ति–उपाय :

शाश्वत– परमपद की प्राप्ति हेतु मनुष्य को ईश्वरपरायण होकर सभी कार्य करते हुए भी ईश्वर को अर्पण करना चाहिए । सदैव ईश्वर की चित्त लगाने पर मनुष्य परमपद को प्राप्त कर सकता है ।

''सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः
मत्यप्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।''

11.भक्ति–महिमा

एकाग्रचित और अनन्यभाव से जो मनुष्य ईश्वर को भजता है, वह ईश्वर का प्रिय होता है ।

''ये तू सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।''

वस्तुतः जीवन में भक्ति की महिमा महान् है । इससे मोक्ष की प्राप्ति सुलभ है । भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि कुछ भी पूर्ण भक्ति से भगवान् को अर्पित करता है तो भगवान् उसे अवश्य खाते हैं अथवा स्वीकार करते हैं ।अतः सभी भावों से किए गए कर्मों को भगवान के लिए अर्पित करना चाहिए । जो पूरी निष्ठा एवं श्रद्धा से भगवान् की शरण में जाते हैं वे सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं । श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं कहा है –

''सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।''

12.जीवन में आदर्शाचार

श्रीमद्भगवद्गीता के 12वें अध्याय में कहा गया है कि जो द्वेषभावरहित, स्वार्थरहित, सर्वजनप्रिय, दयालु, ममतारहित, सुख–दुखः में समान, क्षमावान्, हमेशा सन्तुष्ट, ईश्वर में निष्ठावान्, मन और बुद्धि से ईश्वरार्पित, हर्ष, इच्छाओं से रहित, पवित्र, पक्षपातरहित, द्वेषरहित, सभी कार्यों में अनासक्त, शत्रु एवं मित्र में समभाव, मानापमान में समान, स्थिर बुद्धिवाला है, वही भगवान् का प्रिय होता है ।

ये सभी गुण मानवजीवन में आदर्शाचार के स्तम्भ हैं । अतः इन सभी को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करना चाहिए ।

ऋग्वेद के सञ्ज्ञानसूक्त में जीवनदर्शन के मूलमंत्र विद्यमान हैं –

''स(च्छध्वं संवदध्वं
सं वो मनांसि जानताम् ।।''

इस प्रकार कर्त्तव्य–विमुख मनुष्य को कर्त्तव्य–पथ पर निर्विघ्न बढ़ाकर, साधना के मार्ग पर ठीक प्रकार से चलाकर उसे जीवन–संग्राम में विजयी बनाना ही गीता का उद्देश्य है । साधन–मार्ग में जितनी भी कठिनाइयां आती हैं, उनको स्पष्टरूप से साधक के समक्ष रखकर सम्पूर्ण आधि–व्याधियों का साहसपूर्वक सामना करते हुए उन्हें दूर करना, जीवन–ज्योति को लक्षित कराकर उसी की मदद से आगे बढ़ाना तथा इसी प्रकार एक दिन साधक (मनुष्य) को पूर्णता प्राप्त करा देना ही गीता का ध्येय है ।

वस्तुतः गीता के द्वारा हृदय में तथा संसार में भगवान् का निरन्तर ध्यान करके मनुष्य जिस स्थिति को प्राप्त करता है, वह वाणी का विषय नहीं है, उसे तो अनुभव से ही समझा जा सकता है ।

Please cite this Article as : डॉ॰ (श्रीमती) ज्योति शर्मा ,श्रीमद्भगवद्गीता एवं जीवनदर्शन : **Review of Research (March ; 2012)**